॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला—३

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितामूर्ति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण

विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कंध सुबोधिनी

(जन्मप्रकरण, प्रथमाध्याय)

-हिन्दीभाषानुवाद-

अनुवादक—

कृष्णकिशोर द्विवेदी "आयुर्वेदाचार्य"

प्रकाशक—

वैष्णव मित्र मंडल इन्दौर.

वामन द्वादशी भाद्रपद शुक्ल ११ संवत् २००२

वल्लभाब्द ४६८

१८ सितम्बर सन् १९४५

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कंधपूर्वार्धजन्मप्रकरणीय

श्री सुबोधिनी हिन्दी भाषानुवाद

— द्वितीयोऽध्यायः —

श्रीशुकउवाच —

मू०— प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः ।
मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥ १ ॥

अर्थ — बहुभक्षक, प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, मुष्टिक अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशि, धेनुक, आदि असुरोंने (यादवों को दुःख देना प्रारंभ किया) ॥ १ ॥

कारिकाः— एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते ।
महत्वज्ञापनार्थायद्वितीये सविशेषणः ॥ १ ॥
दुःखं हेतुरिहागन्तुमिति बोधायतत्कथा ।
पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका ॥ २ ॥
सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथास्तुतिः ।
अन्यथा भगवानेवप्रादुर्भूतः कथंभवेत् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — श्रीमदाचार्यचरण श्रीवल्लभाचार्य द्वितीयाध्याय का तात्पर्य निरुपण करते हुवे आज्ञा करते हैं कि —

इस प्रकार "प्रथमाध्यायमे भगवदुत्पत्तिमे कारण भक्तों का दुःख है, ऐसा कहा गया है; वह हेतु कारण है। हेतु कारण के निरुपणानन्तर इस द्वितीयाध्यायमे महत्व प्रकट करने के लिये सविशेष कृष्णोद्यम कहा जायगा (१) श्रीप्रभु के भूतल पर प्रकट होनेमे कारण रुप "दुःख" ही है; यही बोध कराने के लिये प्रभुके शीघ्रागमन के कारण (दुःख) से उत्पन्न वह कथा यहां स्पष्टतया निरुपण की जाती है। (२) भगवत्प्रादुर्भाव सब को सूचित करने

के हेतु ही कंसवाक्य एवं ब्रह्मादि देवोंद्वारा की गई स्तुति है। यदि ऐसा नहीं हो तो भगवान् प्रकट हुए है; यह किस प्रकार ज्ञात हो सके ? (३)

श्री सुबोधिनी

पहले सामान्य प्रकार से यादवों के साथ कंस द्वारा किये गये विरोध का निरुपण किया गया है। अब भगवान् के शीघ्र आगमन के हेतु लोक मे कंस द्वारा जो महान् उपद्रव किया गया है वह कहा जाता है —

प्रलम्ब नामक दैत्य-दैत्यरुपसे ही वर्तमान है। वकदैत्य - पक्षी रूपसे है। चाणूर-दैत्य - मनुष्य रूपसे है। तृणावर्त राक्षस - वायु रूपसे है। येही सम्पूर्ण दैत्य बहुभक्षक हैं (अत्यन्त भोजन करनेवाले हैं) इनके द्वारा यादवों का नाश प्रारंभ हुआ अर्थात् इन्होंने कई यादवों का भक्षण भी किया है। अघासुर भी महाशन (बहुभक्षक) है ऐसा कोई कहते हैं। यहां इन नामों मे योगिक अर्थ चिन्तनीय हैं।

मुष्टिक दैत्य चाणूर के ही समान (मनुष्य रूप से) था। जैसे निर्दिष्ट प्रलम्ब का वध बलराम ने किया था उसी प्रकार मुष्टिक का भी वध बलराम द्वारा ही हुआ है। जैसे बक दैत्य पक्षी रूप में था वैसे ही अरिष्ट नामक दैत्य भी बैल में पशु रूप से था। द्विविद दैत्य वानर रूप से था। पूतना राक्षसी रूप से, केशी अश्वरूप से तथा धेनुक-गर्दभ रूपसे था॥२

मू०—अन्यैश्चासुर भूपालै र्बाणभौमादिभिर्युतः
यदूनां कदनं चक्रे बली मागध संश्रयः॥ २ ॥
ते पीडिता निविविशुः कुरुपाञ्चाल कैकयान्।
शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि॥ ३ ॥
एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।
हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना॥ ४ ॥
सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः॥ ५ ॥

अर्थ— अन्य असुर राजाओं द्वारा बाण भौमादि के साथ तथा जरासन्ध जिसका सहायक है ऐसे बलवान कंस ने यादवों को दुःख देना प्रारम्भ किया॥ २॥

वे पीड़ित हुवे यादव—कुरु, पञ्चाल, कैकय, शाल्व, विदर्भ, निषद, विदेह, कोशल आदि देशों में जाकर रहने लगे॥ ३॥ तथा कई ज्ञातिजन उस कंस के चारों ओर रहकर उसी की सेवा करने लगे॥ ३॥

उग्रसेन के पुत्रकंस के द्वारा देवकी के छः बालकों के मारे जाने पर देवकी के हर्ष एवं शोक को बढ़ाने वाले सप्तम गर्भ-विष्णु के धाम रूप, अनन्त गर्भ में प्रकट हुए॥४-५॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार अन्य सैकड़ों असुर राजा होकर हैं। बाण बलि का पुत्र था। भौमासुर-नरकासुर भी कहा जाता है। इसी प्रकार जरासन्धादि भी (संपूर्ण असुर राजा रूप से थे) गुप्त हुवे यदुओं को प्रलम्बादि बाधा देते थे तथा प्रकट हुओं को बाणादि राजा दुःखप्रद थे। इस प्रकार इन लोगों के द्वारा अन्याय पूर्वक यदुओं का नाश प्रारंभ हुआ। ये सब कंस की आज्ञा इसलिये स्वीकार करते थे कि कंस बलवान था तथा कंस का श्वसुर मगध देश का राजा जरासंध उसका सहायक था, उस जरासंध ने भी कंस के दिग्विजय में उससे पराजित होकर ही अपनी दो कन्यायें विवाहार्थ उसे दी थी।

इन उपर्युक्त दैत्यों में से किसी के द्वारा भी आज्ञा का उल्लंघन होने पर जरासंध कंस की सहायता करता था एवं उन्हे दबाता था अतएव कंस को जरासंध का आश्रय था ऐसा कहा गया है ॥ २ ॥

कंस के दैत्यों द्वारा पीड़ित यदुओं का कृत्य कहा जाता है। पूर्वोक्त दैत्यों द्वारा पीड़ित होने पर यादव हस्तिनापुर आदि देशों में प्रविष्ट हुए। तथा अन्य कुछ यादव, पांचाल-कम्पिल्ल देश; कैकयचित्रकूटादि देश, शाल्वपश्चिम प्रान्तीय देश, निषधउत्तरीय प्रदेश, एवं विदर्भदक्षिण देश; कोशलअयोध्यादि प्रदेशों में गुप्त रूप से निवास करने लगे। ये संपूर्ण राजा धर्मात्मा थे इसीलिये स्वदेश को छोड़कर अपने कुटुम्ब सहित उपर्युक्त प्रदेशों में निवास करने लगे ॥ ३ ॥

इसी प्रकार जो लोग मथुरा से अन्य प्रदेशों में नहीं जा सकें वे कंस के सेवक होकर रहने लगे; ऐसा कहा जाता है। अक्रूरादि के समान कतिपय ज्ञातिजन तथा सगोत्री जन कंसको संवेष्टन करके सेवक रूप से रहकर चारों ओर से उसकी सेवा करने लगे। इस प्रकार परम प्रभु परमेश्वर के प्राकट्य के उद्यम के लिये सभी को होने वाले महान् दुःख का निरूपण; प्रभु प्राकट्य में हेतु रूप से, कहा गया है। मूल श्लोक में "हतेषु षटसु" पदद्वारा भगवान् पूर्ण ब्रह्म के उद्यम कथन के हेतु देवकी के बन्धन पर्यन्त के चरित्र का निर्देशन है।

कंस के द्वारा देवकी के छः बालक मारे जाने पर (सप्तम गर्भ प्रकट हुआ है) कंस ने अपनी बहन के पुत्रों का वध किया है; अतः उसे पिता के नाम से (औग्रसेनिना) निर्दिष्ट किया गया है; "कंस ने अपनी बहन के पुत्रों का वध किया है" इस वाक्य द्वारा यह अर्थ स्वयं सिद्ध है कि उसने अन्य लोगों का भी वध किया है। लौकिक में भागिनेय (बहन का पुत्र) का अत्यंत मान है।

कृष्णावतार के समय भगवान् पूर्ण ब्रह्म सर्व परिकर सहित वैकुण्ठ से यहां पधारे थे। ऐसा प्रसिद्ध है। देवकी के अष्टम गर्भ में पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप का प्रादुर्भाव है। तथा सप्तम में अक्षर ब्रह्म स्वरूप भगवद्धाम आविर्भूत थे। भगवान के छः गुण पूर्व के छः पुत्र हुए थे। पहले देवकी को सर्व देवातामयी भी कहा गया है कारण कि साधारण स्त्रियों में भगवत्प्रादुर्भाव असम्भव है इसी प्रकार देवकी के प्रथम छः पुत्र भी भगवद् धर्म ही हुवे हैं

क्योंकि वहां भी साधारण का प्रवेश असम्भव है। इन षड्गुणों द्वारा कंस की बुद्धि भ्रष्ट हो जाने पर ही तथा सप्तम गर्भ का आविर्भाव होने पर ही षट् पुत्रों का वध कंस द्वारा हुआ है। सप्तम गर्भ का नाश नहीं हो सका यह विषय मूल श्लोक स्थित "वैष्णवं" पद द्वारा स्पष्ट है। विष्णु सर्व व्यापक हैं; एवं सर्व के रक्षक है अतः उनकी स्वतः की रक्षा में किसी भी प्रकार का संदेह ही नहीं हो सकता है। सप्तम गर्भ ही परमावधि है सप्तम गर्भ ही आनन्दादि उत्कर्ष की अवधि है। छः पुत्र छः गुण रूप है तथा सप्तम धर्मी उनका आधार भूत है; और पुरुषोत्तम उनसे भी महान् हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम उनसे भी महान् हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम की महत्ता सिद्ध करने के हेतु ही सप्तमगर्भ को भगवद् धाम रूप कहा गया है।

जिस "अनन्त" को लोक कालरूप कहते है वही "अनन्त" सप्तमगर्भ में आविर्भूत हैं। वह अर्ध प्रकटितानन्द (गणितानन्द) होने से देवकी के लिये हर्ष शोकोत्पादक हुए है। ऐसे महान स्वरुप का जन्म देवकी के गर्भ से है यह अत्यन्त हर्ष का विषय है तथा वे महान् भी कंस द्वारा नष्ट कर दिये जायेगें यह चिन्तन देवकी के लिये शोक का कारण है। कारण कि देवकी इनके प्रभाव को नहीं जानती थी ॥ ५ ॥

मू० —भगवानपिविश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम् ।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥
गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोप गोभिरलङ्कृतम् ॥६॥

अर्थ—स्वयं ही नाथ है जिनके ऐसे यदुओं के कंस द्वारा उत्पन्न भय को जानकर विश्वात्मा भगवान् ने योग माया को आज्ञा प्रदान की कि—हे, कल्याण मयी देवी ! तू गोप गौओं से अलंकृत व्रज में जा ॥ ६ ॥

श्री सुबोधिनी

ऐसा होने पर भगवान् ने भक्तों पर दया स्थापित की तथा दयामय भगवान् ने इसका उपाय भी शीघ्र ही किया। कंस द्वारा प्रथम किये गये अपराधों के प्रतिकार के लिये भगवान् शीघ्र प्रादुर्भावित हैं। यदि कंस सप्तम गर्भ को स्पर्श करेगा तो उन्हीं के द्वारा उसका नाश निश्चित है तथा सप्तम गर्भ द्वारा कंस के मारे जाने पर उसके अपराधों का यथोचित प्रतीकार नहीं होगा (ऐसा विचार कर ही) भगवान् ने योगमाया को सप्तम गर्भ को अन्यत्र ले जाने की आज्ञा प्रदान की है। योग माया जगत् की कारण भूत शक्ति है। मूल में "विश्वात्मा" पद यह सूचित करता है कि भगवान् विश्वात्मा होने से लोकों के दुःख को जानते है। वे भगवान् सबके दुःख के ज्ञाता है अतः यादवों का दुःख उन्हें ज्ञात ही है। उस यादवों के दुःख को ही जानकर भगवान प्रकटित हैं; कारण कि भगवान् स्वयं उनके नाथ हैं अतः उनके दुःख का प्रतिकार आत्यावश्यक है प्रभु केवल इच्छा मात्र से सब कुछ कर सकते है किन्तु यहां केवल इच्छा द्वारा ही संपूर्ण कार्य अपेक्षित नहीं है अतः भगवान ने योगमाया को आदेश किया है।

अब आगे नव श्लोकों द्वारा भगवदाज्ञा वर्णित है। भगवान् की प्रथम आज्ञा है कि-कल्याणमयी देवि ! व्रज में जा। व्रज में जाने पर स्वास्थ्य (शान्ति) प्राप्त हो सकता है कारण कि मथुरा में दैत्यावेश है। उन दैत्यों का भगवान् का माया रूप ही है और यदि यह माया भी वहां (मथुरा) गई तो उन्हीं के कार्य की साध होगी अतएव भगवान् ने योगमाया को केवल देवाश्रित गोकुलमेही जाने की आज्ञा प्रदान की है।

कारण कि—हे योगमाया! तू देवतारूप है नहीं कि दैत्योंकी हितकारिणी है अतः तू व्रजमेही जा। ऐसी भगवदाज्ञा है; और इसी लिये मूल श्लोक मे योगमाया को "देवि" कहकर सम्बोधन किया है। व्रज अर्थात् गमन; व्रज शब्दद्वारा जङ्गमत्व प्रदर्शित है (चलने वाली वस्तु जङ्गम है) अतः स्थावर नगर (मथुरा नगरी) से उस (व्रज) का उत्कर्ष है।

यहां शङ्का होती है कि — व्रज मे स्थित देवों का वहां माया के जाने के कारण व्यामोहन होगा, और इससे कार्य विपरीत होने की सम्भावना है ? इस शङ्का के निवारणार्थ मूलमे "भद्रे" कल्याणमयी, ऐसा योगमाया को सम्बोधन है अर्थात् योगमाया कल्याणमयी है अतः देवों का व्यामोहन नहीं हो सकता है। भगवान ने उसे (योगमायाको) कहा है कि—तू कल्याणरुपा है, तू देवों की भी कल्याणरुपा देवता है तथा ऐहिक (इस लोक के) सुख को देनेवाली है। वह योगमाया अत्यन्त सम्मान से मुग्ध होती है अतः परम प्रभुने कहा है कि — व्रज; गोप, गोपियां, एवं गौओं से अलंकृत है। गोप एवं गौऐं यही दोनो उस स्थान की शोभारुप है वहां की शोभा इन्हीं से है; तथा वहां जो अन्य रहते है वे भी इन्हीं के समान हो जाते है अत एव वहां की शोभा में प्रतिबन्ध नही हो सकता है इसीलिये व्रजदर्शन में ही सुख निरुपित है।

मू०— रोहिणी वसुदेवस्यभार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्चकंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥ ७ ॥

अर्थ — वसुदेव की पत्नि रोहिणी नन्द के गोकुल मे है। तथा अन्य स्त्रियां कंस से पीडित होने के कारण गुप्त स्थानों मे रहती हैं।

श्री सुबोधिनी

माया के व्रज मे जाने का क्या प्रयोजन है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर उपर्युक्त पद्य कहा गया है।

वसुदेवकी पत्नि रोहिणी वहां रहती हैं। यहां पुनः शङ्का होती है कि-रोहिणी के वहां रहने मे क्या सम्बध है ? तदर्थ मूलमे "नन्दगोकुले" नन्द के गोकुल मे ऐसा कहां गया है अर्थात् गोकुल नन्द से सम्बन्धित है। इस प्रकार के कथन द्वारा नन्द तथा वसुदेव के भ्रातृ सम्बन्ध का भी प्रदर्शन है।

यह सूचित करने के हेतु ही यहां दो पाद अधिक है (श्लोक संख्या छः में दो चरण अधिक है) वसुदेव की तथा अन्य यादवों की दूसरी स्त्रियां जो कि कंस से भयभीत हैं

वे गुप्तस्थानोंमे निवासित है। भय की दशामे ऐसे ही स्थानोंमे रहना योग्य है; ऐसा मूल श्लोक स्थित निश्चयता सूचक " हि " शब्द व्दारा कथित है ॥ ७ ॥

मू०—देवक्याजठरेगर्भं शेषाख्यंधाममामकम् ।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय ॥ ८ ॥
अथाहं अंश भागेन देवक्याःपुत्रतांशुभे ।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥ ९ ॥
अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्व कामवरेश्वरीम् ।
धूपोपहार बलिभिः सर्वकाम वर प्रदाम् ॥ १० ॥

अर्थ--देवकी के उदर से मेरा शेष नामक धाम-गर्भ रूप से है; तू उसको खींचकर रोहणी के उदर में स्थापित कर ॥८॥ हे शुभे ! इसके पश्चात मैं भी अंश भाग के साथ देवकी का पुत्र होउंगा और तू नन्द पत्नि यशोदा में प्रकट होगी ॥९॥ सर्वकामवरेश्वरी, तथा सर्वकाम-वरप्रदा ऐसी तुझे, मनुष्यगण-धूप, उपहार, तथा बलिद्वारा पूजन करेंगे ॥१०॥

श्री सुबोधिनी

वहां जाकर क्या कार्य करना ? ऐसी जिगीषा होने पर उपर्युक्त कार्य का निर्देशन है। "जठरे" पद का श्लोक में प्रयोग कर यह प्रदर्शित किया गया है कि यह गर्भ अन्य गर्भों से विलक्षण है। "तत्" पद प्रसिद्धता सूचित करता है। वहां (देवकी के उदर) से खींचकर रोहिणी के उदर में उस गर्भ को अच्छी प्रकार स्थापित कर ! (ऐसी भगवदाज्ञा है) उस गर्भ के रक्षण में क्या प्रयोजन है ? ऐसी शंका के निराकरणार्थ मूल में "शेषाख्यं" ऐसा कहा गया है (अर्थात् वह गर्भ शेष नाम से प्रसिद्ध मेरा धाम है अतः रक्षणीय है) उस शेषाख्य गर्भ के नष्ट होने पर संपूर्ण पृथ्वी ही जल में निमग्न हो जायगी। (अतः रक्षणीय है) उसको खींच-कर रोहिणी में स्थापित करने में भी कोई हानि नहीं हो सकती है करण कि वह मेरा धाम है। भगवान का तेजरूप अथवा भगवत स्थान रूप होने से उसका नाश नहीं हो सकता है ॥८॥

पुनः यदि शंका हो कि-गर्भ के देवकी में ही स्थित रहने में क्या दोष है क्योंकि इस गर्भ को कंस से तो भय है ही नहीं ? इसके निराकरणार्थ कहा गया है कि—इस गर्भ के आकर्षण के पश्चात मैं स्वयं प्रकट होऊंगा। ऐसी आज्ञा स्वयं भगवान पूर्ण पुरुषोत्तम ने की है। क्योंकि भक्ति मार्ग में वे ही सेव्य हैं, एवं प्रारंभ से यदुनाथ भी वे ही कहे गये हैं। वे चार प्रकार सेभूतल पर पधारेंगे। 'अथ' शब्द कथन का प्रयोजन यही है कि गर्भ संकर्षणा-नन्तर शीघ्रही भगवत्प्राकट्य होगा। 'अहं' (मैं) अर्थात् स्वयं पुरुषोत्तम 'अंशभागेन' अर्थात् वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धादि अंशभागों सहित चार प्रकार से कार्य करने के लिये देवकी के यहां पुत्र रूप से प्रकट होंगे। 'भागेन' यह एकवचनान्त प्रयोग यही स्पष्ट करता है कि प्रद्युमांश द्वारा ही पुत्र रूप है 'अथाहम' इस संदर्भ का तात्पर्य यह कि--जिस प्रकार

तू अन्यत्र उत्पन्न होगी वैसेही मैं भी होऊंगा। 'पुत्रताम्' अर्थात लोक प्रतीति से ही मैं पुत्र रूप हूं नहीं कि मैं स्वयं पुत्ररूप से प्रकट होऊंगा ऐसा स्पष्टीकरण है। 'शुभे' अर्थात तेरे गोकुल जाने से ही मेरे रमण का स्थान शोभायुक्त होगा: ऐसी प्रथम कही हुई आज्ञा के हेतु कथन के लिये और माया केवल भगवान की ही शरण होने से वह अकेली बैकुंठ में रहे यह भी अयुक्त है यह सब प्रदर्शित करने के हेतु उपर्युक्त संबोधन मूल श्लोक में कथित है। उस माया को भी प्रकट होने की आज्ञा भगवान् ने प्रदान की है कि--तू भी नन्दपत्नि यशोदा में प्रकट होगी। माया को यह आज्ञा यशोदा में स्तन्य (दुग्ध) उत्पन्न करने के हेतु तथा मोहन एवं मारण के हेतु है ॥९॥

स्तन्य उत्पादन के हेतु, तथा मोहन, मारण के हेतु माया का प्रादुर्भाव है यह विषय माया को इष्ट न हो अतः उसे प्रसन्न करने के हेतु माया के लिये अन्य फल भी कहा गया है; कि--मनुष्यगण तेरी पूजा करेंगे। 'मनुष्य' शब्द कह कर दैवांश एवं दैत्यांश का निवारण किया है अर्थात् केवल मनुष्य ही तेरी पूजा करेंगे। क्योंकि दैवांश वाले भगवत्सेवक है तथा दैत्यांशवाले किसी का भजन ही नहीं करते हैं। मनुष्यों के द्वारा अर्चन किये जाने में मुख्य हेतु फल है। (अतः वह फल भी भगवान ने सूचित किया है) माया को सर्व कामनाओं की तथा वरों की ईश्वर कहा है। काम्य विषय उपाय सहित होते हैं तथा वर उपाय रहित हैं। योगमाया स्त्री है अतः उसकी साक्षात्सेवा मनुष्यों द्वारा होना अनुचित है यह (सेवा) उसे (मायाको) भी प्रिय नहीं हो सकती है अतएव धूप, उपहार, बलि द्वारा पूजा का निर्देशन हैं। पूजा में तीन प्रकार के साधन कहे गये हैं; प्रथम धूप, दूर से ही सम्भवित है; उपहार भी दूर से ही समर्पित होता है; तथा स्वतः प्रकाशमान को दीप की आवश्यकता ही नहीं रहती है अतः दीपका कथन नहीं है; बलि- अर्थात पशुओं का दान; पहले कहे हुवे 'सर्वकामवरेश्वरीम्' विशेषण में योगमाया में सब प्रकार का प्रभुत्व स्थापित किया किन्तु यदि योगमाया सर्व प्रकार की कामनाओं को दान नहीं करेगी तो भजनीय भी नहीं होगी अतएव उसमें दातृत्वशक्ति की भी स्थापना 'सर्व-कामवरप्रदाम्' विशेषण द्वारा स्थापित की है ॥१०॥

मू०—नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि ।
दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च ॥११॥
कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च ।
माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च ॥१२॥

अर्थः—दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, तथा माया, नारायणी, इशानी, शारदा, अम्बिकादि, इस प्रकार पृथ्वी पर मनुष्य गण (योग-माया के) नाम एवं स्थान स्थापित करेंगे। ॥११॥१२॥

श्री सुबोधिनी

इस योग माया के सान्निध्य के लिये मंत्रस्वरूप नाम तथा स्थान की निर्देशन करते

है। "कुर्वन्ति" यह वर्तमान काल का प्रयोग समीपता सूचित करता है। नाम द्वारा ही स्थान भी प्रसिद्ध होते है। "च" (और) शब्द द्वारा अधिष्ठानों की भी सूचना है। "नराः" मनुष्य ही नाम तथा स्थान की स्थापना करेगें नहीं कि देव, या दैत्य। "भुवि" पृथ्वी पर स्थापना है। दुर्गा दि नाम कथित हैं। "इति" शब्द द्वारा सर्वत्र मंत्र देश भेद से प्रसिद्धि प्रतिपादित है। दुर्गा—काशी में प्रसिद्ध है; भद्रकाली—उज्जैन में, विजया—उत्कल देश (उड़ीसा) में, वैष्णवी महालक्ष्मी—कोल्हापुर में, चण्डिका—कामरूप देश में, माया तथा शारदा—उत्तर प्रदेश है, अम्बिका—अम्बिकावन में, तथा कन्यका—कन्याकुमारी में प्रसिद्ध है इसी प्रकार अन्य भी प्रसिद्ध स्थान हैं; और मन्त्र भी प्रसिद्ध हैं ॥११—१२॥

मू०—गर्भ संकर्षणात्तं वै प्राहुः संकर्षणं भुवि।
रामेति लोक रमणात् बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥१३॥

अर्थ—गर्भ संकर्षित होने से उन (गर्भस्थ) को (मनुष्यगण) पृथ्वी पर संकर्षण कहेंगे तथा लोक का इनसे रमण होता है अतः ये "राम" कहे जावेंगे; और बलाधिक्य के कारण "बलभद्र" नाम से भी प्रसिद्ध होंगे ॥ १३ ॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार उस योग माया के नाम का वर्णन करके भगवान् शेष के नामों का भी वर्णन करते है—गर्भ रूप का अच्छी प्रकार संकर्षण होने से उनको "संकर्षण" कहते हैं। "प्राहुः" यह क्रियापद प्रमाण सूचक हैं। "भुवि" (पृथ्वी पर) यह पद सूचित करता है कि —अवतार दशा में ही उपर्युक्त नामों की प्रसिद्धि हो जायगी। वस्तुतः तो चतुर्मूर्ति (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) भगवान का द्वितीय व्यूह संकर्षण है; वह भी यहां अविष्ट है। अतएव लोकगण गर्भ संकर्षण से ही उस (गर्भ) को "संकर्षण" कहते हैं। अब दूसरा नाम कहते हैं—"राम" अर्थात् लोक रमण जिससे हो वह "राम" अथवा जो लोक रमण करे वह राम कहा जाता है। "रामेति" विभक्तिरहित प्रयोग द्वारा यह समझा जाता है कि यह नाम प्रभु को सम्मत नहीं है; अथवा संबोधन रूप मानकर व्यवहारार्थ है; ऐसा समझा जा सकता है।

'बलभद्र' अर्थात वे भगवान् बल द्वारा भद्र है; अधिक बलवान् होने से 'बलभद्र' कहे गये है नहीं कि बलकार्य कर्त्ता होने से 'बलभद्र' कहे गये हों ॥१३॥

मू०—सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत् ॥ १४ ॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान् द्वारा आज्ञा दी जानेपर योगमाया—'ठीक है' 'ऐसाही करूंगी' कहकर भगवान के वाक्यों को ग्रहण कर परिक्रमा करने के पश्चात् पृथ्वी पर गई तथा वैसाही कार्य किया ॥१४॥

श्री सुबोधिनी

ईश्वर के वाक्यादेश के पश्चात ही ऐसा योगमाया ने किया है यह उपर्युक्त पद्य द्वारा स्पष्ट हैं। 'भगवता' 'भगवान् द्वारा' यह प्रयोग-प्रभु की आज्ञा अनुल्लंघनीय है' यह सूचित करने के हेतु प्रयुक्त है। 'तथा' शब्द गर्भ संकर्षण के लिये एवं स्वयं के उत्पन्न होने के हेतु है। 'ओम्' पूजा के अर्थ में है। वह योगमाया प्रभु के वचन ग्रहणकर पृथ्वी पर गई तथा वहां जाकर उसने वैसाही किया है ॥१४॥

मू०—गर्भे प्रणीते देवक्यां रोहिणीं योगनिद्रयां।
अहो विस्त्रंसितो गर्भ इति पौरा विचुक्तुशुः ॥ १५ ॥

अर्थ—योग निद्रा द्वारा जब देवकी का गर्भ रोहिणी में स्थापित किया गया तब लोक कोलाहल करने लगे कि अहो! (देवकी का) गर्भ विस्रंसित हुआ है ॥१५॥

श्री सुबोधिनी

भगवन्निर्दिष्ट सम्पूर्ण कार्य लोक प्रसिद्ध हुआ; वह कहा जाता है योगमाया द्वारा गर्भ ले जाया जाकर रोहणी से स्थापित किया गया है। योग निद्रा द्वारा यह काय हुआ था अतः इसके कर्षण तथा स्थापन का किसी को ज्ञान ही नहीं हुआ।

'अहो' यह आश्चर्य सूचक शब्द है। 'विस्रंसित' नीचे गिरा। 'ध्वंसु, और 'स्रंसु' यह दोनों धातु अधः पतनार्थ द्योतक हैं। गर्भ का पात हुआ इससे यह स्पष्ट है कि उस समय देवकी को पांचवा अथवा छठा मास था। 'पौराः' पुर (मथुरानगरी) में रहने वाले जन समुदाय; इन सबको ही यह विषय प्रतीत हो गया यह 'पौराः' पद द्वारा स्पष्ट है। कंस द्वारा भेजे हुवे राक्षसों द्वारा गर्भपात हुआ है ऐसा जन समुदाय में कौलाहल उत्पन्न हुआ ॥१५१

मू०—भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः।
आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥ १६ ॥

अर्थ—भक्तों को अभय देने वाले, विश्वात्मा भगवान् श्री वसुदेव के मन में अंशों के भाग सहित प्रविष्ट हुए हैं ॥१६॥

श्री सुबोधिनी

जन समुदाय के कोलाहल के उपरान्त ही भगवान; वसुदेव द्वारा देवकी में प्रविष्ट हुवे हैं; यह ढाई श्लोकों द्वारा कहा जाता है। निषेद (सती पुरुष का संयोग) का अभाव होने पर भी पहले वसुदेव से तथा बाद में उन्ही के द्वारा देवकी में भगवदागमन हुआ है। यहां पर

नृसिंहावतार, हंसावतार के समान प्राकट्य नहीं हुआ है किन्तु यदुवंश सम्बन्ध से शूर पौत्रत्व से एवं वसुदेव के पुत्ररूप से भगवत्प्रादुर्भाव है। जीव में शरीर का ही यश के साथ सम्बन्ध होता है तथा शरीरोत्पत्ति निषेक (स्त्री पुरुष संयोग) से है अतः भगवदुत्पत्ति भी इसी प्रकार की कही जा सकती है किन्तु यहां पर ईश्वर का प्रादुर्भाव ही उत्पत्ति पदार्थ है अतः इनकी आगे कहे अनुसार वसुदेव द्वारा देवकी में आविर्भाव है। अन्यथा देवकी में भगवान आविष्ट हुये ऐसा कहा जाता नही कि जिस प्रकार लोहे के गोले में अग्नि प्रविष्ट होती है उसी प्रकार वसुदेवजी के मन में भगवदाविर्भाव हुआ ऐसा कहा जाता। तथा (देवकी से भगवदावेश हुआ हैं) ऐसा कहने पर "आनक दुन्दुभी व्यर्थ होता है। अंशों के भाग विभाग सहित प्रभु देवकी में प्रविष्ट हुये हैं। कई लोग अंशेन " अर्थात् नारायण रूप " भागेन " केशरूप के साथ प्रद्युम्न देवकी मे प्रविष्ट हुये ऐसा अर्थ करते हैं। पुरुषोत्तम स्वरूप तो माया के साथ ही नन्द के यहां प्रकट हुये हैं। यदि ऐसा नही हो तो " जठरम् " ऐसा तथा " तव सुत " ऐसा कैसे कहा जा सकता है? और " [illegible] " इत्यादि शुकदेव द्वारा कथित वाक्य मे भी विरोध होता है। माया के द्वारा ही रूपान्तर भी हुआ है यह माया के निरूपण के साथ ही चतुर्था ध्याय में उसकी उत्पत्ति निरूपण की गई है तथा उत्पत्ति वर्णन करने के पश्चात् ही " नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने " ऐसा सम्भ्रम कहा गया है। ऐसा होने से सम्पूर्ण चरित्र में॥ अभिनिवेश होता है। उत्पत्ति मन द्वारा है अतः मूल में " मन " कहा गया है॥ १६॥

मू०—स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमाना यथा रविः।
दुरासदोति दुर्धर्षो भूतानां सम्ब भू वह॥ १७॥

अर्थः — वह (वसुदेवजी) पौरूष तेज को धारण करते हुये सूर्य के समान प्रकाशित होते हुये संपूर्ण प्राणीयों के लिये दुरा सद तथा दुष्प्राय हुये॥१७॥

श्री सुबोधिनी

भगवान् का आवेश होने पर वसुदेव का स्वरूप जैसा हुआ वह वर्णन किया जाता है:—

"प्रम पुरुष—भगवान के धाम—तेज के धारण करने पर स्वतः भी स्व कान्ति तथा सामर्थ्य से अनुभव युक्त अधिक शोभित हुए। जिस प्रकार कि सूर्य स्वतः शोभित होता है अथवा जिस प्रकार सूर्य के द्वादश बिम्बों में भगवान् के प्रवेश से वे बिम्ब प्रकाशित होते है उसी प्रकार भगवदावेश से वसुदेव भी शोभित हुए हैं। ऐसा होने पर उनको कंसादि का भी भय नहीं रहा यह 'मूल' स्थित "दुरासदः" पद द्वारा स्पष्ट है। कोई भी उनके निकट जाने में अथवा उनका अधिक्षेप=तिरस्कार करने में समर्थ नहीं था अत एव क्लेश दूर ही सूचित किया है। "भूतानां" अर्थात् संपूर्ण प्राणिमात्र अथवा कोई राक्षस गण ही उनके पास नहीं जा सकते थे तथा अधिक्षेप नहीं कर सकते थे। "सम्बभूव" इसमें "भूव" के साथ के "सम्" उपसर्ग

द्वारा यह स्पष्टीकरण है कि वे वसुदेव भूतों (प्राणी अथवा राक्षस) के लिये अच्छी प्रकार से "दुरासद एवं दुष्प्रप्य थे अर्थात् कोई परीक्षा के लिये भी बलपूर्वक उनके पास नहीं जा सकता था। "ह" यह शब्द आश्चर्य प्रवोधक है। भगवान् तो संपूर्ण प्राणीमात्र के है किन्तु सर्वत्र तेज नहीं है ॥१७॥

मू०—ततो जगन्मंगलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्म भूतं काष्ठा यथाऽनन्द करं मनस्तः ॥१८॥

अर्थ—इसके बाद वसुदेव द्वारा स्थापित हुवे—जगत् के कल्याण करने वाले, सब की आत्माओं में आत्मरुप ऐसे अच्युतांश (भगवान् अच्युत को अंश सहित) को देवी देवकी ने जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्र को धारण करती है वैसे ही मन से धारण किया ॥१८॥

श्री सुबोधिनी

भगवदंश अपने में ही स्थापित करना उचित है तथापि भगवान् "जगन्मंगल" है अतः देवकी में स्थापित है और इसीलिये मूल श्लोक में यह पद भी स्थापित हैं। वह भगवदंश जगन्मात्र का कल्याण करनेवाला है। भगवदंश के आगमन प्रवेश, तथा निर्गमन में अन्यथा भाव (विकृति) अथवा न्यूनाधिक संभवित है ? ऐसी शंका के निराकरणार्थ मूल में 'अच्युतांशम्' पद रखा गया है। यह भगवदंश अच्युत+अंश है। यह अंश न्यूनाधिक अथवा नष्ट नहीं होता है। अथवा भगवान् अच्युत का यह अंश है इस प्रकार के षष्ठी तत्पुरूष समास में भी वही अर्थ प्रस्फुरित होता है। वही अंश वसुदेव द्वारा वैध दीक्षा प्रकार से अच्छी तरह स्थापित किया हुआ है। वस्तुतः समाधि में देवकी की भावना करके मन के द्वारा ही वहां पर साक्षात तेज (भगवान्) की स्थापना की गई है। यह कार्य शूरसुत—वसुदेव ने किया है। विवेक प्रदर्शित करने के हेतु ही वसुदेव के पिता का नाम भी मूल में 'शूरसुतेन' इस प्रकार कहा गया है। " देवी " इस पद के कथन का यह अभिप्राय है कि-- देवकी देवी थी; अतः उनमें अन्तः प्रवेश द्वारा समाधि में भी तेज ग्रहण करने की शक्ति थी। यह कार्य करने की सामर्थ्य देवों को ही सिद्ध होती है; इसीलिये देवकी भी धारण कर सकी है। यह शंका हो कि--इस प्रकार दूसरे के धारण करने पर " ब्रह्मत्व " नहीं रहता है ? इसी के निराकरणार्थ मूल में " सर्वात्मकम् " अर्थात् वह ब्रह्म सब की आत्मा रूप है ऐसा कहा गया है। उस ब्रह्म को सभी धारण करते हैं। अतः देवकी के धारण करने में दोष नहीं है। तथापि यहां पुनः किसी को शंका हो कि--प्रकृति के चैतन्य अथवा बीज रूप मनको प्राप्त करके वह उस (देवकी) में स्थित है ? यह दूषण ही है; तदर्थ मूल में "आत्म भूतम्" यह कहा है अर्थात् ब्रह्म सबका आत्म भूत है अतः दोष नहीं है । देवकी में आत्मरूप से ही भगवान् ने प्रवेश किया है नहीं कि--बीज अथवा चैतन्य रूप से प्रविष्ट हुये हैं। जिस प्रकार ज्ञान से अपनी आत्मा को धारण कर ' अहमात्माधार ' मैं आत्मा का आधार हूं ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार देवकी ने स्वयं ही आत्मभूत भगवान् को धारण किया है। इस प्रकार शुद्ध स्वरूप ही वसुदेव

से देवकी में आया है; यह कहा गया है। चैतत्य, बीज, और मन्त्रपक्ष यह अल्पज्ञों को प्रतीति कराने के हेतु ही कहा गया है।

क्रम से माया का उद्घाटन होने से वृद्धि आकाश से ही हैं (जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश ऐसी उपाधि के दूर होने पर आकाश की वृद्धि घंट में से मठ में तथा मठ में से व्योम में होती हैं उसी प्रकार क्रम से माया का भी उद्घाटन होने से गर्भ की आकाश के समान वृद्धि कथित है) उससे माया तथा ब्रह्म (भगवान्) में अविकृत बुद्धि उत्पन्न होती है। इतना होने पर भी देवकी ने स्वप्रयत्न से भगवत्तेज प्राप्त कर धारण किया है ऐसा नहीं है किन्तु जिस प्रकार पूर्व दिशा आनन्दकर चन्द्रमा को स्वप्रयत्न के बिना धारण करती है वैसे ही देवकी ने भी गर्भ धारण किया है। यह धारण क्रिया भी मन के द्वारा संपन्न हुई है। अविकृतमन के द्वारा यह कार्य हुआ है यह स्पष्ट करने के हेतु मूल में 'मनस्तः' शब्द में 'तसिल्' प्रत्यय का प्रयोग है; विभक्ति का नहीं है। स्थापन तथा धारण में मन ही सेतु है ॥१८॥

मू०—सादेवकी सर्वजगन्निवास निवासभूता नितरां नरेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्नि शिखेवरुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा—सती ॥ १९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानवंचक लोगों को सती सरस्वती शोभित नहीं होती है उसी प्रकार संपूर्ण जगत् के निवास भूत भगवान जगन्निवास की अधिष्ठानरूप कंस के गृह में बंधी हुई वह देवकी भी अग्निशिखा के समान शोभित नहीं हुई ॥१९॥

श्री सुबोधिनी

जिस प्रकार भगवदावेश से वसुदेव शोभित हुये हैं वैसे देवकी शोभित नहीं हुई हैं यह कहा जाता है—

पुरुष का तेज विवेकादि के साथ होने से चिन्ता के द्वारा पराजित नहीं होता है; तथा स्त्रियां परतन्त्र होती हैं एवं विवेकादि रहित हैं अतः चिन्तायुक्त होने पर शोभित नहीं होती हैं। यद्यपि वह देवकी देवतारूप थी, तथा संपूर्ण जगत के निवास भूत भगवान् की भी अधिष्ठान (रहने का स्थान) थी; अपने में स्थित रोमावलि से स्वतः को भय नहीं होता है, भगवान् में यह सब विद्यमान है, इससे भगवान के भय नहीं है, भगवान को स्वयं को जगत से भय नहीं है; ऐसी होते हुवे भी देवकी शोभित नहीं हुई। भगवच्चिंता से स्वयं भी और अन्य के लिये भी देवकी शोक का कारण हुई चिन्तादि के द्वारा बहिर एवं अंतःकरण भी मलिन था। इसमें यह भी दूसरा कारण था कि—वह देवकी कंस के गृह में बंदी थी। बाहर आकर सबको सुखदायक नहीं हुई। जिस प्रकार कुण्ड में जलाने पर भी अग्नि भस्मादि से रुद्ध होने पर अन्तर्ज्वलित ही रहती है उसी प्रकार यह भी चिन्तादि से व्याप्त होने के कारण प्रकाशयुक्त नहीं हुई थी।

यह दृष्टान्त अपने धर्मों से ही स्फुरित नहीं होने पर दूसरा दृष्टान्त कहा जाता है।
अन्य निरोध से स्फुरित नहीं होने पर दूसरा दृष्टान्त कहा जाता है सतीसन्मार्ग

प्रवर्तिनी सरस्वती भागवतादिरूपा ज्ञान वंचक को जिस प्रकार उसके अन्तःकरण को ही संतोष देती है; बहिः प्रकाशित होकर सबको नहीं; उसी प्रकार कंस द्वारा रोकी हुई देवकी गृह में ही प्रकाशित हुई बाहर प्रकाशित नहीं हुई। यदि 'असती' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो असती स्वयं प्रकाशित नहीं होती है। जो व्यक्ति परोपकारजनक सत् विद्या स्वयं जानते हुए दूसरे अधिकारी को नहीं देता है वह 'ज्ञानखल' ज्ञानवंचक कहा जाता है। इसके द्वारा देवकी के स्वतः के अंतरंगो मेंभी भगवदाविर्भाव की संगोपन सूचना है ॥१६॥

मू०—तांवीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तंराम्,
विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
प्राहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां,
ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥ २० ॥

अर्थ—अजित भगवान् अन्तर मे हैं, ऐसा प्रभा द्वारा प्रकट करनेवाली तथा प्रभा के ही द्वारा भवन को उज्ज्वलित करनेवाली, विशुद्ध स्मित युक्त देवकी को देखकर कंस कहने लगा कि—मेरे प्राण को हरण करनेवाला हरि निश्चय ही गुहा (उदर गुहा) में स्थित है; कारण कि (देवकी) पहले ऐसी (प्रभायुक्त) नहीं थी ॥ २० ॥

श्री सुबोधिनी

जिस प्रकार देवकी सबको सुख देनेवाली नहीं हुई; उसी प्रकार कंस को भी सुखदायक नहीं हुई। प्रभायुक्त देवकी को देखकर ही कंस उपर्युक्त कहने लगा है। प्रभा के द्वारा ही जाना जाता है कि इसके अन्तर में अजित भगवान् का निवास हैं। भगवान् इसके अन्दर है ऐसा देखकर और प्रभा द्वारा ही भवन को शोभित करती हुई (को देखकर कंस ने उपर्युक्त श्लोक में कहे गये शब्द कहे है)। भगवान् का आजितत्व दर्शन में ही (कंस को) सूचित कर दिया है। कारण कि वे निश्चिन्त है। परमानन्द भगवान् के हृदय में प्रविष्ट होने पर प्राणी निश्चय ही संपूर्ण दुःखों से निवृत्त होता है।

इस (देवकी) के प्रसन्न मुख को देखकर ही कंस ने "भगवान् इसमें स्थित है" ऐसा निश्चय किया है। देवकी की मुस्कराहट (स्मित) पवित्र एवं बाह्य विकार रहित है और अन्तकरण आनन्द से उत्पन्न है। भगवत्कान्ति प्रकटित होने से वह [देवकी] अन्तः एवं बहिः गृह को प्रकाशित करती थी। ऐसी उस देवकी को देखकर तथा इसमें भगवान् है ऐसा निश्चय करके उनके आगमन के अन्य प्रयोजनों के अभाव को जानकर कंस बोला कि—"मेरे प्राण को हरण करनेवाले हरि ही इसके उदर में प्रकाशित हो रहे हैं।" ऐसा निश्चय किया है। कारण कि—यह पहले ऐसी संतोषादिरूप युक्त नहीं थी। यहां शंका होती है कि—भगवान् स्वयं थे तो वे सबको दिखाई क्यों नहीं दिये? इसके निराकरणार्थ मूल श्लोक में "गुहांश्रितः ऐसा कहा है अर्थात्वे भगवान् उदर गुहा में स्थित थे अतः सबको दिखाई नहीं देते थे। पुनः शंका होती है कि—भगवान् उदर में रहे यह सम्भावित नहीं है कारण कि—वे तो अजीव हैं।

इसके निराकरणार्थ गुहा शब्द कहा गया है अर्थात् यह उदर तो गुहा ही है 'गुहांप्रविष्यत्मानौ" ऐसा न्याय है। व्याससूत्र में गुहा में ही भगवत्स्थिति कथित है। अतः यह प्रकाशमान स्वरूप हरि का ही है और हरि होने से ही मेरे प्राणको हरण करनेवाले हैं ॥ २० ॥

मू०—किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे—
यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम् ।
स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोयं,
यशः श्रियंहन्त्यनुकालमायुः ॥ २१ ॥

अर्थ—अब मुझे इस विषय में जल्दी से जल्दी कौनसा उपाय करना चाहिये; कि जिससे स्वकार्य के वश होकर [मेरे समान पुरुष के] पराक्रम का नाश न होवे ? क्या इस [देवकी] का वध किया जाय ? किन्तु प्रथम तो यह स्त्री है तथा बहन भी है और साथ ही गर्भिणी भी है इसका वध शीघ्र ही यश, श्री तथा आयुका हरण करनेवाला है ॥ २१ ॥

श्री सुबोधिनी

इसके बाद क्या हुआ यह उपर्युक्त पद्य में कहा गया है। उन भगवान् के प्राणहरण कार्य के लिये उपस्थित होनेपर पहले किये गये संपूर्ण प्रतीकार व्यर्थ हों जाने पर अब क्या करना चाहिये ? इसका विचार कहा जाता है। चुप रहने पर तो ये प्राणों का हरण करही डालेंगे अतः शीघ्र ही कौनसा उपाय करना चाहिये ? इसको (देवकी को) मार डाला जाय क्या ? किन्तु नही कारण कि—मेरे समान धर्म के स्वाधीन हुआ पुरुष अपने पराक्रम का नाश नहीं करता है। इस स्त्री के वध करने से अपने पराक्रम की ही हानि है।

अथवा उदरस्थित भगवान् अर्थतन्त्र हैं कार्य के लिये ही आये हैं अतः वे अपने पराक्रम का नाश नहीं करेंगे। चुप नहीं बैठेंगे (ऐसा अर्थ भी हो सकता है)

यदि तेरे (कंसके) जीवन का अदृष्ट विद्यमान होगा; तो ये नहीं मारेंगे किन्तु तुझे अन्य किसी के द्वारा भी कभी मरना ही है। अतः भगवान् से द्रोह करना अनुचित है तथापि जीवन हेतु के होते हुए नाश के हेतु आने वाले का प्रतीकार करने से प्रदीप के समान जीवन पुनः प्राप्त हो सकता है अतः इसको मारना ही उचित है। (ऐसा मन में निश्चय हो जाने पर आगे फिर कहा जाता है कि—) यह स्त्री है अदृष्ट के विद्यमान होने पर भी उत्कट दुष्कर्म से आयुष्य क्षीण ही होती है। तथा आयुष्य के विद्यमान रहने पर भी नाश तो होता ही है अतः इस प्रकार का कार्य नहीं करना चाहिये। स्त्रीयों का वध यश को नष्ट करने वाला है स्त्रीयों की रक्षा में शूरों के लिये स्वप्राण त्याग यश वृद्धि का कारण है। बहिन का वध लक्ष्मी का नाश करता है। संपूर्ण पुरुष सोमात्मक है तथा लक्ष्मी उनकी बहिन है अतः बहिन का वध धनादि संपूर्ण सम्पत्ति का नाश करने वाला है। और यह तो गर्भिणी है; गर्भिणी-प्राणियों के आयुष्य की पोषक होती है। उसके वध से आयु का नाश होता है अतएव यदि इसका वध

किया जाय तो यह-स्त्री, बहिन एवं गर्भिणी है अतः यश, श्री एवं आयुष्य का उसी समय नाश करेगी ॥२१॥

मू०—सएष जीवन् खलु सम्परेतो,
वर्तेत योत्यन्तनृशंसितेन ।
देहेऽमृते तं मनुजाः शपन्ति,
गन्ता तमोन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥

अर्थ—यह (कंस) जीवित होते हुवे भी मृत के ही समान है जो मनुष्य अत्यन्त क्रूर कर्म करते हुए जीवित रहता है-उसके जीवित रहने पर भी लोक उसकी निन्दा करते हैं-उसे श्राप देते हैं; तथा वह देहाभिमानी (मरने पर) अन्धतमस् आदि नरकों में अवश्य ही जाता है ॥२२॥

श्री सुबोधिनी

जीवन का अदृष्ट प्रबल होते हुवे भी देवकी को मारना ही चाहिए ? ऐसी शंका के उपस्थित होने पर उपर्युक्त पद का निर्देशन है । (कंस स्वान्तःकरण में विचार करता है कि-) वह प्रसिद्ध भी ऐसा मेरे समान लक्षणो वाला पुरुष शौर्य तथा राजलक्ष्मी से युक्त होते हुवे जीवित भी मृत के समान है । यश एवं श्री के चले जाने पर केवल जीवन मृत के समान ही हैं । यह निश्चित है । तथा जो मनुष्य क्रूर कर्म करते हुए जीवित हैं वह भी जीवित शव है; यह सत्य है । यदि वह जीवित है तो उसे मनुष्यगण श्राप देते है कि-"यह दुरात्मा मर जाय" और यदि वह मर जाता है तो कहते हैं " अच्छा हुआ कि वह दुरात्मा मर गया " इस प्रकार वह लोगों के धिक्कारों से जलाया जाता है । परलोक में " अन्धतमस् " नरक में जाता है । देहाभिमान संबंधि जो अन्धतमसादि नरक हैं उनमें अवश्य ही जाता है । भगवान् का सामीप्य होने से तथा भगवदिच्छा से उस कंस को ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ है । अतः यह समझना चाहिए कि-भगवदिच्छा से ही ज्ञान में ज्ञान के प्रचार एवं विशेषता दिखाई देती है । देवकी के पुत्र मारने के योग्य है ऐसे प्रथम उपदेश के द्वारा ही यह ज्ञानोदय हुआ है । तथा वसुदेव को भी उस समय वैसी बुद्धि हुई । अतः सबके लिये सब प्रकार के ज्ञान को उत्पन्न करने वाला भगवान ही है; कृष्ण ही भगवान है यह उपर्युक्त वाक्यों से निश्चित होता है । उन्हीं का प्रतिपादन करने के हेतु ये वाक्य कहे गये हैं ॥२२॥

मू०—इतिघोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयंप्रभुः
आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म हरेर्वैरानुबंधकृत् ॥ २३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त घोर भावना से स्वयंप्रभु (स्वतः ही भगवत् रूप) कंस पीछे हटा; प्रभु के साथ वैरानुबन्ध करने वाला प्रभु के जन्म की प्रतीक्षा करता हुआ रहने लगा ॥२३॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार विचार करने के पश्चात जो हुआ वह कहते हैं।

अयोग्य रीति से वध करना यही घोर कर्म है, एवं बहन का वध तो घोरतर कर्म है तथा गर्भिणी का वध यह और भी घोरतम कार्य है अतः इन कारणों से कंस वहां से अच्छी प्रकार निवृत्त हुआ। अर्थात् चला गया या इन कार्यों से पीछे हटा। यहां शंका होती है कि—उस कंसने अन्य किसी की प्रेरणा से देवकी को क्यों नहीं मारा? इसके निराकरणार्थ कहा है कि वह "स्वयं प्रभु है। वह स्वयं ही प्रभु है, उसको प्रवर्तन करनेवाला अन्य कोई नहीं है। भगवत्प्रादुर्भावके पश्चात् "उनके साथ युद्ध करुंगा" ऐसा निश्चय करके ही उनके जन्म की प्रतिक्षा करता हुआ रहने लगा। यहां पुनः शंका होती है कि ऐसा होने से तो वह भक्त हो जायगा? इसके निराकरणार्थ मूल में "हरेर्वैरानुबन्धकृत्" हरि के साथ वैरानुबन्ध करता हुआ, ऐसा कहा है। हरि संपूर्ण दुःख का नाश करनेवाले है। तथापि पूर्व जन्म में इसे मारा था, अतः उस वैर का अनुसन्धान करता हुआ वह कंसप्रभु के सम्बन्धिओं को मारता रहा ॥ २३ ॥

मू०—आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुंजानःपर्यटन पिबन्
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥ २४ ॥

अर्थ—(कंस) बैठने पर, सोने पर, खड़े रहने पर, भोजन करते हुए, घुमते हुए, हृषीकेश का ही चिन्तन करने लगा; तथा भगवन्मय संपूर्ण जगत् को देखने लगा ॥ २४ ॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार वैर का अनुसन्धान करते रहने पर भी भगवचिन्तन में प्रमाणब्रह्म के के अभाव में भी प्रमेय बल के ही द्वारा उसे ज्ञान उत्पन्न हुआ; वह कहा जाता है—

"आसीनः" बैठे हुए, "संविशन्"सोते हुए, "तिष्ठन्" खड़े रहने पर तथा भोजन के समय, पीते हुए घूमते हुए भी, इस प्रकार संपूर्ण अवस्थाओं में वह कंस भगवान् हृषीकेश का ही चिन्तन करने लगा। अपने दर्शन कराने के हेतु ही सर्व इन्द्रियों के स्वामी भगवान् हृषिकेश ने उसे ऐसी प्रेरणा की थी। अतएव कंससंपूर्ण जगत् को कृष्णमय ही देखने लगा था ॥२४॥

मू०—ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः।
देवैः सानुचरैः साकम् गीर्भिर्वृषणमीडतुः ॥२५॥

अर्थ—ब्रह्मा, तथा महादेव नारदादि मुनिओं को साथ लेकर देव और उनके नुचरों सहित वहां (देवकी के समीप) आकर वाणी द्वारा भगवान् की स्तुति करने लगे ॥२५॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार पूर्वाध्याय में महान् दुःख के सहित भगवच्चिन्तन अर्थ से कहा गया है। इस अध्याय में कंसादि का भगवच्चिन्तन कहा है। ब्रह्मादि द्वारा जो भगवच्चिन्तन स्तुति रूप से किया गया है वह कहा जाता है। इस प्रकार सामान्य रीति से सबका निरोध भी कहा गया है। भगवान् का आगमन सबको ज्ञात था यह कहने के लिये कंसादि को नहीं गिनकर संपूर्ण देवों का आगमन देवकी के यहां हुआ यह कहा जाता है। "ब्रह्मा" ब्रह्मा, "भवः" महादेव, "च" और अन्य भी गुणाभिमानी देवगण, "वामनादिक अवतार भी वहां गये" "ऐसा कोई मानते है" "मुनयः" सनकादिक तथा नारदादि भक्तगण, इन्द्रादि देव,गन्धर्वादि उनके अनुचर इन सबके साथ अनुकूल वाणिओं द्वारा "वृषणम्" अर्थात् कामवर्षी प्रभु अथवा "वृष" अर्थात्, वृषभरूप धर्म इसको ले जाने वाले प्रभु की स्तुति करने लगे। स्तुति करने वालों में ब्रह्मा एवं महादेव ही मुख्य थे अतः "ईडतुः" कहा गया है। कोई लोग "ईडतुः" के स्थान पर "ऐडयन्" ऐसा पाठ कहते है वहां संपूर्ण देवादि भी स्तुति पाठ में सम्मिलित थे ऐसा समझना चाहिये ॥२५॥

("ईडतुः" इस पद के द्वारा यह प्रकट होता है कि स्तुति करने वाले दो ही थे तथा ब्रह्मा एवं महादेव ये दो देवता ही उपर्युक्त देवों में मुख्य है अतः ये ही दोनों स्तुति पाठ करने वाले थे एवं शेष ध्यानस्थ थे। कोई लोग "ईडतुः" के स्थानपर "ऐडयन्" ऐसा पद स्थापित करते है। "ऐड्यन्" से यह अर्थ प्रस्फुटित होता है कि सभी ने मिलकर स्तुति की है)

देवाउचुः—

मू०—सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम् , सत्यस्ययोनिं निहितंचसत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रम् , सत्यात्मकं त्वां शरणं मपन्नाः ॥२६॥

अर्थ—सत्यव्रत, (सत्य ही जिनका व्रत है) सत्य पर, (सत्य, तप, दम, श्रम, दान, धर्म, प्रजनन, अग्नि, अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन, और संन्यास ये द्वादश "पर" जिसके सत्य है(त्रिसत्य, (भूः, भुवः, स्वः, ये तीनों जिसके सत्य हैं) तथा जो सत्य का कारण है एवं जो सत्य के रक्षक हैं और जो सत्य के भी सत्य (आधिदैविक स्वरूप) है। ऋतु, तथा सत्य जिसके नेत्र हैं ऐसे सत्यात्मक ? हम आपके शरण में आये हैं ॥२६॥

कारिकाः—

कालात्मा भगवांजातः इति ज्ञापयितुं तथा।
कलाभिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः ॥१॥
पक्षपातस्तुति र्ह्येषा देवानांहितकारिणी।
ध्रुवा तु षोडशी मोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत् ॥२॥

करिकार्थ

प्रभु पूर्ण पुरुषोत्तम सोलह कलाओं से पूर्ण है। अतः भगवान् सोलह कलाओं से कालात्मा हुए; यह सूचित करने के हेतु सोलह श्लोक द्वारा देवगण स्तुति करते हैं। इसमें स्वपक्ष प्रकट करने वाली पंद्रह श्लोकों द्वारा की गई स्तुति देवों का हित करने वाली पक्षपात स्तुति है। सोलहवीं स्तुति ध्रुवा भक्तों का हित करने वाली है। देवतागण भक्त है अतः उनके द्वारा स्वाभाविक रूप से की गई स्तुति ध्रुव=निश्चित है।

श्री सुबोधिनी

यहां पंद्रह श्लोकों द्वारा भगवान् की स्तुति की गई है तथा एक श्लोक के द्वारा देवकी का सान्त्वन कथित हैं। काल पंच दशात्मा होता है। वे ही कलात्मा प्रकट हुवे है यह उन देवों को ज्ञात हुआ है। कालात्मा दो प्रकार के हैं। दैत्यों का हितकारी भी पंच-दशात्मा (कालात्मा) है तथा देवों का भी हितकारी पंचदशात्मा हैं। साधारण प्रकार से तो त्रिंशद्रात्मा है किन्तु देवतागण उन कालात्मा प्रभु को स्वपक्षपाती मानते हैं अतः पंद्रह के द्वारा ही निरूपण किया जाता है। तथा तिथी की वृद्धि में सोलह दिन का काल होता है। यहां कालात्मा शब्द में समय से तात्पर्य है। एक महिना तीस दिन का होता है। महिने में शुक्ल पक्ष एवं कृष्णपक्ष दो पक्ष होते हैं। प्रत्येक पक्ष पंद्रह दिन का है उपर्युक्त कथन में भी कलात्मा भगवान के दो प्रकार कहे गये है एक पक्ष दैत्य हितकारक है तथा दूसरा देव हितकारक। पक्ष पंद्रह दिन का है अतः देवों ने उन कालात्मा भगवान् की स्तुति पंद्रह श्लोकों द्वारा की है।

यह कालकृत पक्षपात चार प्रकार का है। (१) लोककृत (२) स्मृतिकृत; यह स्मृति भी दो प्रकार की लौकिक एवं वैदिक अतएव तृतीय पक्षपात (३) वेदकृत (४) भगवत्कृत है। यह चार प्रकार का पक्षपात (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) साधन (४) फल भेद से चार प्रकार का है। (इस प्रकार सोलह प्रकार हुए है) दैत्यकृत पक्ष पंचदशात्मक है तथा यह सोलह प्रकार का है (यही सोलह कलाये हैं) यही विशेषता प्रकट करने के हेतु सोलह प्रकार की गणना की गई है।

प्रथम चार श्लोकों द्वारा प्रमाण, प्रमेय, साधन, तथा फल कहा जाता है। इनमें प्रथम लोक सिद्ध देवों के पक्षपात रूप का निरूपण किया जाता है। लोक में सत्य ही "प्रमाण" माना जाता है। सर्वतः दृश्यमान जगत् ही प्रमेय है। गुणाभिमानी देवगण ही साधन हैं। और क्षेम ही फल है। तथापि दैत्यपक्ष व्यतिरेक (पार्थक्य) साधनीय है।

देवों का "प्रमाण" सत्य है; तथा दैत्यों का अनृत, प्रमाण है। इससे यह सिद्ध है कि सत्य स्वरूप भगवान् अवतरित है। ऐसा निरूपण किया जाता है। देवों का हितकारक सत्य भी आठ प्रकार का है अंशतः तो सोलह प्रकार का ही है।

वेद में "सत्यंपरम्" तथा "प्राज्ञापत्यो हारुणि" इन श्रुतियों द्वारा सत्य के पांच

प्रकार निरूपित है। जो सत्य है, वह सबसे उत्कृष्ट पर है। अथवा जो सबसे उत्कृष्ट है वह सत्य है। इस प्रकार सत्यत्व एवं सर्वोत्कृष्टत्व में एकता प्रतिपादित करना चाहिये। इसलिये सत्य के द्वारा स्वर्गलोक से कभी भी च्युति नहीं होती है; इस प्रकार आमुष्मिक फल का उत्कर्ष कहा गया है। यहां पर भी सत्पुरुषों के लिये सत्य ही मूल है, फल है। अतः सत्य-प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल रूप है; जो देवपक्ष पाती है वे सत्य में ही रमण करते हैं। श्रुति भी कहती है कि "सत्यं परं पर ँ सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सता ँ हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त" सत्य ही पर है, परही है, सत्य के द्वारा ही स्वर्ग से कभी भी नीचे नहीं गिरते हैं; सत्पुरुषों का संपूर्ण ही सत्य है, इसलिये वे सत्य में ही रमण करते हैं। यही यहां भी निरूपण किया जाता है।

लोक में व्रत उत्कृष्ट वस्तु है। जो पुरुष किसी भी व्रत का आचरण करता है वह परश्रेष्ठ कहा जाता है। तथा सत्य भी श्रेष्ठ कहा जाता है। भगवान के तो दोनों ही (सत्य और व्रत) सत्य है। सत्य ही जिनका व्रत है ऐसे भगवान है इस प्रकार के सत्यात्मक प्रभो! आपकी शरण में आये हैं। ऐसा मूल श्लोक का संबन्ध है।

इस प्रकार व्रत तथा सत्य की एकता कही गई है क्योंकि पर " " सर्वोत्कृष्ट है।

अब "पर" नाम से लोक एवं वेद में जिसके बारह प्रकार कहे गये हैं वह कहते हैं— सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजनन, अग्नि, अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन और सन्यास ये द्वादश पर संपूर्ण ही भगवान् के हैं एवं सत्य यथार्थ है दैत्यों के समान यह द्वादशविध "पर" अयथार्थ नहीं है; यहां पर भी पहले कही गई श्रुति का अनुसंधान करना चाहिये।

भगवान के व्रत "कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति" हे कौन्तेय। तू प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त नष्ट नही होता है किन्तु उसके दोष नष्ट होते हैं। "द्विशिरंनाभि सन्धत्ते" भगवान् राम की प्रतिज्ञा है कि "एक लक्ष्य पर दो वक्त शरसन्धान नही करता हूँ, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" अन्य भगवान् कर्म फलोपभोग नही करते हुए सत्य ही प्रकाशित होते हैं" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित है। लोक दृष्टि से भी देवहित करने वाले का नियामक सत्य है अन्यथा ईश्वर किसके द्वारा नियमित हो सकता है? प्रस्तुत प्रकरण में भी स्व सत्य वाक्य द्वारा ही भगवानवतरित है।

लोक में तीन लोक प्रसिद्ध ही है (१) भूः (२) भुवः (३) स्वः तथा (१) काया (२) जीव (३, परमात्मा इस प्रकार तीन आत्मा कही जाती है।

ये दोनों ही (आत्मा तथा तीनों लोक) मूल श्लोक स्थित "त्रि" शब्द में अंतर्भावित हैं। ये तीनों जिसके सत्य हैं वह त्रिसत्य है। इसमें साधन तथा फल दोनों ही एकत्रित करके निरूपण किये गये हैं। इस तरह चार प्रकार के अष्टविध प्रभु का उपपत्तिरूप से निरूपण किया गया है।

अब उत्पत्तिरूप अष्टविध सत्य का निरूपण करते हैं पहले जो आठ प्रकार का सत्य कहा गया है उन सबके योनि कारण भगवान् कालात्मा ही हैं "श्वो दास्यामि" "कलदेउंगा" इस प्रकार के कथन में यदि "कल" होवे ही नहीं तो यह कथन असत्य सिद्ध हो जाता है

अतएव कालात्मा रूप भगवान् का ही कहा गया है क्योंकि वे सत्य है अतएव "कल" निश्चय होगाही; आगामी कल में हेतु कालात्मा भगवान् हैं ऐसा समझना चाहिये।

प्रभु केवल सत्य के उत्पादक नहीं है अपितु रक्षक भी है। कहा है कि प्रभु सत्य में "निहित" हैं। सत्य में "नितरा हितः" रक्षक है। भगवान् स्वयं वहां स्थित होकर रक्षा करते हैं ऐसा समुदायार्थ भी होता है। इस प्रकार भगवान् सत्य में स्थित होकर सत्य का पालन करते हैं; ऐसा अर्थ है। इस प्रकार सत्य की उत्पत्ति के विचार में प्रमेय, साधन भी कहा गया है। प्रमाण एवं फल आदि में "ऋतसत्यनेत्रे" और अन्तमे "सत्यात्मकं" इन दो पदों द्वारा कहे गये हैं।

यह अर्थ स्पष्ट करने के हेतु ही मूल में "निहितं च सत्ये" वाक्य के मध्य में "च" (और) शब्द रखा गया है।

सत्य का प्रलय भी भगवान् में ही होता है जैसे "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" इस श्रुति में पूर्णका लय पूर्ण में होकर पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है; इसी प्रकार सत्य भी स्व आधिदैविक रुप सत्य में ही लीन होता है। सत्य में ही प्रतिष्ठित होता है। सत्य ही फल है। सत्य का अधिदैविक स्वरूप भगवान् ही है। इस प्रकार जो भगवान् में प्रतिष्ठित है वही सत्य है। जो सत्य में स्थित है वह सत्य द्वारा भगवान् में प्रतिष्ठित होगा; यह भी कहा गया है। इस तरह उत्पत्ति, स्थिति, एवं प्रलय में पांच प्रकार के सत्य का निरूपण किया गया है। यहां तक भगवान् की तेरह प्रकार की क्रिया शक्ति सत्यत्व रूप से निरूपण की गई है।

ज्ञान शक्ति का सत्यत्व से निरूपण करते है; ऋत एवं सत्य ये दोनों जिसके नेत्र है। ज्ञान शक्ति दो प्रकार की है—(१) प्रमाण बल द्वारा (२) प्रमेय बलद्वारा। प्रमाण वेद कहा जाता हैं। प्रमेय भगवद्धर्म है। "ऋत" अर्थात् सूनृता (सत्य का प्रतिपादन करनेवाली) वाणी। वेद सत्य प्रति पादक है अतः सत्य निरूपण के समय "ऋत" का भी निरूपण किया गया है। ऋत एवं सत्य ये दोनों भगवान् को प्रापक=प्राप्त कराने वाले हैं। इस तरह दो प्रकार से भगवत्प्राप्ति होती है; ऐसा समझना चाहिये।

इस तरह दोनों प्रकार की शक्तियों का (क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति) निरूपण करके सत्यत्व के द्वारा धर्मी स्वरूप का निरूपण किया जाता है—प्रभु स्वयं सत्यात्मक हैं; सत्य ही जिनकी आत्मा है वह सत्यात्मक है। तथा जो संपूर्ण ही धर्मों में व्याप्त होकर स्थित है वह आत्मा कहा जाता है। वही सत्य आत्मा त्रिकाल बाधित भगवान् का सद्रूप है "सत्यात्मक" शब्द में "क" प्रत्यय स्वार्थ में प्रतिपादित है। अथवा "क" शब्द का अर्थ फल भी किया जा सकता है। सत्य ही "आत्मा" एवं "क" सुख है जिसके ऐसे "सत्यात्मक" स्वरूप भगवान् हैं। भगवान सच्चिदानन्द रूप हैं। चित् एवं आनन्द की भी सत्यरूपता तो है ही। इस प्रकार के भगवान् के शरण में जाना यही जीवों का कर्तव्य है। "प्रपन्ना" इस बहुवचनान्त पद के प्रयोग करने का कारण—"संपूर्ण ही देवों का सत्य के द्वारा संरक्षण करना" यही है ॥२६॥

मू.—एकायनोसौ द्विफलस्त्रिमूलः,
चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो,

दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥२७॥

अर्थ—यह (प्रपंचरूपी) आदि वृक्ष—एकायन (एक ही आश्रय वाला है) द्विफल, त्रिमूल, चतूरस, (चार प्रकार के रस युक्त) पंच ज्ञान जिसके 'प्रकार' है, षडात्मा, सप्तत्वक्, आठ शाखा, नव अक्ष, (कोटर) दशच्छदी (दश पत्ते है जिसके) द्विखगः (दो पक्षी) इनसे युक्त ऐसा है ॥२७॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार प्रमाण कह कर प्रमेय का निरूपण करते है। यह जगत् ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष रूप से निरूपण किया जाता है। "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठस्त्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" "जो आकाश में वृक्ष के समान स्तब्ध रहता है उस पुरुष से यह पूर्ण है" इत्यादि श्रुतियों में भगवान् वृक्ष रूप से वर्णित हैं। उनसे उत्पन्न होने वाला जगत् भी वृक्ष रूप ही है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार भगवान् का महत्व निरूपण किया गया है। जिस प्रकार अश्वत्थादि एक ही वृक्ष में करोड़ों फल लगते हैं उसी प्रकार यह (जगत्) भी है। इस तरह अनादि निधन वृक्ष भगवान् ही हैं; अतएव कचित् ब्रह्माण्ड निर्माण भगवान् से ही होता है; और कहीं पर भगवत् तत्त्व द्वारा होता है। इस वृक्ष का फल अक्षर है। उसके अंश तत्त्व है। ब्रह्माण्ड बीज है। शकुनि पक्षि द्वारा भक्षण किया हुआ फल ही उस वृक्ष में से उत्पन्न फल कहा जाता है।

उसमें से प्रकट हुवे तत्त्व चेतन रूप हैं। उसमें दैत्यादि के कल्प में बहुबीजयुक्त फलों से एक वृक्ष उत्पन्न होता है। इसीलिये बाह्यादि शास्त्रों में बहुत से परमाणुओं से एक ही कार्य की उत्पत्ति निरूपण की गई है। पीपल आदि वृक्ष भी कौए की विष्ठा से उत्पन्न हुवे बहुत से बीजों में से एक से ही उत्पन्न होता है। ऐसा यह प्रपंच रूपी वृक्ष भी होगा—ऐसा ज्ञान नहीं होवे इसीलिये इस वृक्ष का भी बीज एक ही है यह मूल श्लोक स्थित "एकायन" यह सूचित करता है। "अण्ड" अर्थात् अक्षर ब्रह्म अथवा प्रकृति समझना चाहिये। कोई लोग "अण्ड" अर्थात् "काल" ऐसा भी कहते है। इसीलिये यह (दृश्यमान जगत्) एकाश्रयी है।

"द्विफलः" अर्थात् दो फल है जिसके; सुख एवं दुःख ये दो फल हैं। दैत्यों के लिये दुःख ही फल है। ये फल स्वर्ग एवं नरक वाच्य है। "नरक" अर्थात् "नर" का "क" सुख विषयात्मक है। 'स्वर्ग' अर्थात् अपने स्वरूप को जो जाता है। सृष्टि के अन्त में "सर्वविषयिणः" ऐसा वाक्य है। उसमें देव एवं असुर इस तरह दो प्रकार के जीव विषयोपभोगी कथित हैं। सत्व, रज, एवं तम ये तीनों गुण जिसके "मूल" (नीचे की जड़े) हैं। यहां तीनों प्रकार के कर्म भी "मूल" समझे जाते हैं।

दूसरी सृष्टिओं में केवल तामस कर्म होते है तथा किसी में राजस भी होते है किन्तु सात्विक तो होते ही नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष ये चार जिसके रस है। दूसरी

सृष्टियों में अर्थ, और काम ही रस है। पंचेन्द्रियजन्य-आकुंचन, प्रसारण, उत्क्षेपन, अपक्षेपण, गमन. ये जिसके पंचकर्म है, दूसरी सृष्टियों में उत्क्षेपण नहीं हैं। अथवा अन्नमयादि पंचकोश समझना चाहिये। " सवाएष पुरुषः पञ्चधा पंचत्मा" वह यह पुरुष पांच प्रकार से पंचात्मा हैं। ब्रह्माण्ड विग्रह भगवान भी ऐसे ही हैं। दूसरी सृष्टियो में आनन्दात्मा नहीं है। "षडात्मा छः इन्द्रियां जिसकी आत्मा रुप है। "अयमात्माविज्ञानमयः" यह आत्माविज्ञानमय है। उत्पत्ति भेद से षड्विध ज्ञान भिन्न है। त्वगादि [त्वचा, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा शुक्र] स जिसके वल्कल [छाल] है। भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारये आ प्रकृति जिसकी शाखा रूप है। देह के नव छिद्र जिसके कोटर हैं। दशों प्राण जिसके पत्ते है जीव एवं अंतर्यामी ये दोनों पक्षी है। दूसरी सृष्टियों से इसमें विचित्रता जानना चाहिये "हि" अर्थात् संपूर्ण स्थल में युक्तियों को सिद्ध करता है। "आदिवृक्ष" यह शब्द समष्टि रू है। इस प्रकार भगवदात्मक प्रपंच का निरुपण किया गया है ॥ २७ ॥

मू॰— त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिः,
त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च ।
त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वाम्,
पश्यन्ति नाना नविपश्चितो ये ॥२८॥

अर्थ—आप एक ही इस सद्रुप जगत के उत्पति, स्थिति एवं लय में कारण है आपकी माया के द्वारा संकुचित चित्त वाले पुरुष आपको अनेक (प्रकार से) देखते हैं त जो विद्वान् हैं वे अनेक नही देखते हैं ॥२८॥

श्री सुबोधिनी

यहाँ उपपत्ति कहते हुए साधन रुप कहते हैं— इस सत्रुप जगत् के आप एक ही कारण हैं। इस के द्वारा मायावादादि पक्षों का निराकरण होता है। वे मायावादादि पक्ष वैनाशिक है (अर्थात वे जगत् को विनाशशील मानते हैं) "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहु अनीश्वरम्" आसुरी सम्पति वाले पुरुष जगत को असत्य, अप्रतिष्ठित और अनीश्वर कहते हैं इस वाक्य के द्वारा उन (असुरी जीवो) के ही मत में जगत् का असत्यत्व कहा गया है।

यदि ऐसा समझा जाय तो—असत्य एवं अज्ञान रुप कार्य का कर्ता कौनसा भगवान् होता हैं ? उस सम्पूर्ण ही सद्रुप जगत् के "प्रसूतिः" :उत्पतिस्थान आप ही है। जिससे अत्यन्त मात्रा में उत्पत्ति हो वह "प्रसूति" हैं। प्रसूति पद के द्वारा माता पिता के समान इसकी उत्पति सूचित की गई हैं।

आपही जिसके लयस्थान हैं एवं आपही अनुग्रह करके पालन करते हैं। अतः इस जगत् के उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलयकर्ता आपही है। इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि—भगवान् जिसके रक्षक है उसका नाश नहीं होता है। ये गुणाभिमानी ब्रह्मादि देव ही उत्पत्ति आदि में अधिकारी है—मैं नहीं हूं। "इस प्रकार कीशंका के निवारणार्थ "त्वन्मायया"